दैनिक भास्कर

Date: 01-05-17

वित्त वर्ष अप्रैल के बजाय जनवरी से शुरू करने की तैयारी 150 साल पुराने ब्रिटिश फॉर्मूले से अब बाहर आएगा भारत

ब्रिटिश सरकार ने 1867 में शुरू किया था 1 अप्रैल से 31 मार्च तक का वित्त वर्ष

दुनिया के 195 में से 156 देशों में 1 जनवरी से 31 दिसंबर का होता है वित्त वर्ष

स्वीडन में सालभर में 4 वित्त वर्ष होते हैं

स्वीडन में इंडिविजुअल के लिए वित्त वर्ष 1 जनवरी से 31 दिसंबर का होता है। सरकार भी इसे ही मानती है। पर कंपनियों के पास 4 विकल्प होते हैं। अगर वे कैलेंडर ईयर के अलावा किसी और अवधि को वित्त वर्ष बनाना चाहती हैं, तो उसे टैक्स अथॉरिटी से मंजूरी लेनी होती है। और किसी एक को वित्त वर्ष घोषित करना होता है।केंद्र सरकार आर्थिक कामकाज में एक और बदलाव करने की तैयारी में है। सरकार वित्त वर्ष अप्रैल-मार्च के बजाय जनवरी से दिसंबर करना चाहती है। प्रधानमंत्री मोदी नेनीति आयोग की बैठक में इसकी पैरवी की। अगर नई व्यवस्था लागू हुई तो 150 साल बाद देश नए वित्त वर्ष में काम करेगा। अंग्रेजों ने 1867 में ब्रिटिश सरकार से तालमेल के लिए अप्रैल-मार्च का सिस्टम लागू किया था। इससे पहले 1 मई से 30 अप्रैल का वित्त वर्ष चलता था। नई व्यवस्था लागू होने पर दुनिया के 156 देश, जहां जनवरी से वित्त वर्ष शुरू होता है, से तालमेल बिठाना आसान हो जाएगा। उन कंपनियों के साथ भी काम करना आसान होगा जो जनवरी से वित्त वर्ष चलाती हैं। हालांकि इसके लिए केंद्र सरकार को बजट भी फरवरी के बदले नवंबर में पेश करना होगा

अमेरिका, कोस्टा रिका और थाईलैंड में वित्त वर्ष 1 अक्टूबर से 30 सितंबर तक होता है।

इन 5 देशों में वित्त वर्ष 1 जुलाई- 30 जून तक- ऑस्ट्रेलिया, मिस्र, नेपाल, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान

देश	सरकार	कॉर्पोरेट	व्यक्ति या टैक्सपेयर
कनाडा	1 अप्रैल-31 मार्च	1 जनवरी-31 दिसंबर	1 जनवरी-31 दिसंबर
न्यूजीलैंड	1 जुलाई-30 जून	1 अप्रैल-31 मार्च	1 अप्रैल-31 मार्च

जापान 1 अप्रैल-31 मार्च 1 जनवरी-31 दिसंबर 1 जनवरी-31 दिसंबर

ब्रिटेन 1 अप्रैल-31 मार्च 1 अप्रैल-31 मार्च 6 अप्रैल-31 मार्च

इंग्लैंड में मार्च में बजट पेश होता है। इसे स्प्रिंग बजट कहते हैं। नवंबर या दिसंबर में ऑटम स्टेटमेंट जारी होता है। यह परंपरा बीच में बंद भी रही। गॉर्डन ब्राउन ने 1997 में इसे फिर शुरू किया। बजट के दो हिस्से होने के कारण टैक्स में भी साल में दो बार बदलाव होते हैं

वित्त वर्ष बदलने से बड़े पैमाने पर बाधाएं खड़ी होंगी। इसे कारोबार और उद्योग को नुकसान होगा।वित्त वर्ष बदला तो बजट नवंबर में पेश करना पड़ेगा। टैक्स व्यवस्था भी बदलेगी। इसमें सैलरी से लेकर आयकर रिटर्न तक शामिल होंगे।प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष करों से संबंधित कानूनों में केंद्र और राज्यों दोनों को संशोधन करना होगा।उद्योग संगठन एसोचैम का कहना है कि इससे लेखा-जोखा, अकाउंटिंग सॉफ्टवेयर, टैक्स सिस्टम और लोगों की कार्यप्रणाली में भी बदलावकरना पड़ेगा। यह सब के लिए काफी महंगा होगा। वैश्विक कारोबार में भी दिक्कत आएगी।आईएमएफ, विश्व बैंक जैसे संगठनों और कई देशों के वित्त वर्ष से तालमेल में असानी होगी।कैलेंडर वर्ष और वित्त वर्ष में फर्क से विभागीय स्तर पर भी दोहराव की स्थिति बनी रहती है।दुनिया की 500 फॉर्चून कंपनियों में से 70% ने कैलेंडर वर्ष को ही वित्तीय वर्ष बना रखा है।मौजूदा वित्त वर्ष में सरकार मानसून के प्रभाव का आकलन नहीं कर पाती। इससे बजट आवंटन में दिक्कत होती है। इससे निवेश योजनाओं पर भी असर पड़ता है।6 जुलाई 2016 को वित्त मंत्रालय के पूर्व आर्थिक सलाहकार डॉ. शंकर आचार्य की अध्यक्षता में बनी समिति ने भी वित्त वर्ष में बदलाव की सिफारिश की है। समिति ने 6 बिंदुओं पर परखा और कहा कि फसल, सरकारी कामकाज, टैक्स व्यवस्था और डेटा कलेक्शन के लिए बदलाव जरूरी है।

अफगानिस्तान21दिसंबर-20 दिसंबर ईरान 21 मार्च-20 मार्च अमेरिका 1 अक्टूबर-30 सितंबर चीन 1 जनवरी-31 दिसंबर जापान 1 अप्रैल-31मार्चभारत 1 अप्रैल-31 मार्चब्रिटेन 1 अप्रैल-31 मार्च

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-05-17

अल्प चर्चित प्रावधान के इस्तेमाल से बिगड़ रहा संवैधानिक संतुलन

अगर हमारे संविधान का निर्माण करने वाले कभी दोबारा उस पर नजर डाल पाते तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य होता कि एक ऐसा अनुच्छेद किस कदर बदल चुका है जिसे उन्होंने बिना किसी बहस के अंगीकृत किया था। यह प्रावधान अब इतना शक्तिशाली हो चुका है कि आर्थिक मामलों में अदालती हस्तक्षेप देखने को मिल रहा है जैसा कि हमने हाल ही में राजमार्गों पर शराब की दुकानों से जुड़े मामले में देखा और साथ ही विशाखा जैसे सामाजिक कानून पारित किए गए जो कार्यस्थल पर महिलाओं के संरक्षण से संबंधित है। संविधान के अनुच्छेद 142 में सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह संपूर्ण न्याय सुनिश्चित करने के लिए कोई भी आदेश पारित करे। आजादी के बाद शुरुआती

चार दशकों में इसका इस्तेमाल शायद ही कभी किया गया हो। हां, प्रक्रियात्मक खामियों को दूर करने में जरूर इसका इस्तेमाल किया गया। इसका पहला आधिकारिक प्रयोग सन 1961 में नानावटी मामले में देखने को मिला।

उस मामले में नौसेना के एक अधिकारी को हत्या के मामले में दोषी पाया गया था लेकिन अपील पर उसकी सजा निलंबित कर दी गई थी। सर्वोच्च न्यायालय की आधिकारिक रिपोर्ट में इसके पहले या इसके बाद बहुत लंबे समय तक इस प्रावधान के इस्तेमाल की जानकारी नहीं मिलती। संविधान बनाने वालों और न्यायाधीशों को इस बात का अहसास था कि संपूर्ण न्याय करने का अधिकार केवल प्रक्रियागत मामलों में ही है।बहरहाल, आपातकाल के बाद जब देश की सबसे बड़ी अदालत ने मूल अधिकारों का दायरा बढ़ाया तो उसने जनहित याचिका का रास्ता तैयार किया। इसके साथ ही हर पीड़ित कैदी, पर्यावरणविद और तमाम अन्य लोगों के लिए पुकार की राह खुली। इसके साथ ही अनुच्छेद 142 न्यायाधीशों के हाथ में एक ताकतवर हथियार बन गया। सन 1980 के दशक में पूर्ण न्याय करने की यह आकांक्षा तेजी से फली-फूली। सन 1984 में सर्वोच्च न्यायालय ने विदेशियों द्वारा अनाथ बच्चों को गोद लेने संबंधी दिशानिर्देश जारी किए। सन 1997 में अदालत ने विशाखा निर्णय दिया। लगभग उसी समय अदालत ने एक मंदिर प्रबंधन को निर्देश दिया कि पूजा स्थल को उसकी परिसंपत्तियों से अलग रखा जाए। अदालत ने दहेज निषेध अधिनियम के क्रियान्वयन के लिए दिशानिर्देश तय करने की खातिर भी अनुच्छेद 142 के मार्ग का सहारा लिया।

अब तो इस अधिकार का प्रयोग इतना आम हो चला है कि अदालत ने वाणिज्यिक मामलों और सड़क दुर्घटनाओं के मामलों तक में आदेश जारी कर दिए। सहारा मामला जिसमें सहारा प्रमुख सुब्रत रॉय को जेल हुई, वह भी तीन वर्ष के बाद भी अनुच्छेद 142 के अधीन है। अदालत ने ऐसे ही मामले में शिक्षकों की बहाली और मेडिकल कॉलेज में योग्य उम्मीदवारों की नियुक्ति तक की इजाजत दी। उसने आम प्रक्रिया को किनारे लगाकर आपसी सहमति से तलाक को मंजूरी दी। चूंकि ब्रेकिंग न्यूज बनने के बाद कई अदालती फैसले भुला दिए जाते हैं, ऐसे में कुछ ही लोगों को याद होगा कि कैसे अदालत ने आदेश दिया था कि सीमा शुल्क में रियायत के साथ उपकरण मंगाने वाले अस्पतालों को हर महीने उन गरीबों की सूची प्रकाशित करनी होती है जिनका उसने इलाज किया हो। अनुच्छेद 142 के अधिकार अब सर्वव्यापी हो गए हैं और मामले में निर्णय का जरिया बन रहे हैं। इस अधिकार के इस्तेमाल ने संवैधानिक पीठों को बांट दिया है। शुरुआती मामलों में अदालत ने यह बरकरार रखा कि संपूर्ण न्याय हासिल करने की प्रक्रिया में अन्य सांविधिक प्रावधानों का उल्लंघन नहीं किया जाएगा। लेकिन बाद के मामलों में खासतौर पर यूनियन कार्बाइड गैस रिसाव कांड में अदालत ने यह नजरिया अपनाया कि उसकी शक्ति अन्य कानूनों पर भारी पड़ सकती है। तब से आदेशों में कोई खास निरंतरता देखने को नहीं मिली है। 'संपूर्ण न्याय' शब्द अपने आप में काफी अस्पष्टïा और अपरिभाषित है। ऐसे में न्यायाधीशों का झुकाव और उनका विवेकाधिकार काफी अहम हो जाता है। वह इन्हीं के आधार पर फैसले लेते हैं। स्वाभाविक सी बात है कि इससे कई बार गड़बडिय़ां भी सामने आती हैं।

यह मामला इस महीने के आरंभ में उस समय सामने आया जब अदालत ने देश भर के राजमार्गों की एक खास परिधि में शराब की बिक्री पर प्रतिबंध लगा दिया। इसकी आलोचना करने वालों ने, खासतौर पर सांसदों ने कहा कि यह न्यायालय की अनाधिकार चेष्टïा का एक और उदाहरण है। सिनेमा में राष्टï्रगान गाने को लेकर दिया गया आदेश भी एक नई बहस का मुद्दा बना। ऐसा नहीं है कि अदालत के पास न्याय दिलाने के असाधारण अधिकार नहीं हैं। हमारी रिट याचिका का प्रावधान किसी भी लोकतांत्रिक देश का सबसे व्यापक सार्वभौमिक प्रावधान है। ऐसे में यह आवश्यक नहीं है कि एक अव्यक्त रहे प्रावधान को न्यायपालिका की एक और शाखा बनाकर पेश किया जाए। ब्रिटिश संसद के बारे में व्यंग्य में कहा जाता था कि वह किसी स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के अलावा हर काम कर सकती है। भारतीय संदर्भ में बात की जाए तो सर्वोच्च न्यायालय को तमाम वजहों से ऐसा ही अधिकार संपन्न बनाया जा रहा है।

नवदुनिया

Date: 01-05-17

नक्सलवाद की गंभीर होती चुनौती

छत्तीसगढ़ के सुकमा जिले में नक्सलियों के दुस्साहसिक हमले में सीआरपीएफ के 25 जवानों की शहादत ने देश को झकझोरा है। पिछले कई दशकों से लगभग हर साल इस तरह के दो-तीन बड़े हमले सीआरपीएफ अथवा पुलिस पर हो जाते हैं। कई बार नक्सली सड़क, पुल आदि के निर्माण में लगे लोगों को निशाना बनाते हैं। कभी-कभी वे पुलिस के मुखबिर होने के आरोप में आम नागरिकों को भी मार देते हैं। देश में नक्सलवाद का सिलसिला पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी में साठ के दशक में शुरू हुआ। प्रारंभ में नक्सलवाद को इस तर्क के साथ आगे बढ़ाया गया कि अत्यंत पिछड़े इलाकों के गरीब-वंचित वर्ग और विशेषकर आदिवासी समाज को कथित सामंतवादी शासन द्वारा उसके हक से वंचित किया जा रहा है। नक्सलवाद की सोच को आगे बढ़ाने वाले लोगों ने भारतीय संविधान को मानने से इन्कार कर दिया। सब कुछ बंदूक के बल पर हासिल करने का इरादा रखने वाले नक्सलियों ने अपनी ताकत बढ़ाने के लिए भोले-भोले आदिवासियों को शासन-प्रशासन के खिलाफ भड़काना शुरू किया। धीरे-धीरे उन्होंने आधुनिक हथियारों और एक वर्ग के वैचारिक समर्थन के बल पर इस हद तक अपनी ताकत बढ़ा ली कि वे सुरक्षा बलों को गंभीर चुनौती देने लगे। आज नक्सलवाद आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गया है। नक्सलवाद की जड़ें उन क्षेत्रों में अधिक गहरी हैं जहां विकास या तो पहुंच नहीं सका है अथवा उसकी रफ्तार बहुत धीमी है। ऐसे क्षेत्रों में तेज विकास के जरिये ही नक्सलवाद की कमर तोड़ी जा सकती है। नक्सली यह जानते हैं और इसीलिए वे विकास के कार्यों में अड़ंगा लगाने का काम कर रहे हैं। सुकमा में भी उन्होंने सीआरपीएफ की उस टुकड़ी को निशाना बनाया जो नई बन रही एक सड़क की सुरक्षा में तैनात थी। जो सड़क बनाई जा रही थी वह दो हाई-वे को जोड़ने वाली थी और उसके बन जाने से आसपास के इलाकों में विकास की रफ्तार अपने आप तेज हो जाती। सड़कें विकास की वाहक होती हैं। नक्सली इससे भयभीत हैं कि अगर विकास की रफ्तार तेज हो गई तो उनकी रही-सही पकड़ भी समाप्त हो जाएगी। एक समय नक्सली संगठनों ने देश के करीब एक दर्जन राज्यों के आदिवासी बहुल वन क्षेत्रों में अपने ठिकाने बना रखे थे। सुरक्षा बलों की सख्ती और विकास के बल पर ऐसे तमाम ठिकाने खत्म किए जा चुके हैं, लेकिन छत्तीसगढ़, ओडिशा, बिहार, झारखंड के कुछ इलाकों में नक्सली अभी भी अपनी जड़ें जमाए हैं। छत्तीसगढ़ के बस्तर का इलाका उनका सबसे मजबूत गढ़ है। हालांकि छत्तीसगढ़ में लगभग 13 वर्ष से एक स्थिर सरकार है, फिर भी वह नक्सलियों पर काबू पाने में विफल है। यह रमन सिंह सरकार की नाकामी है कि नक्सली आतंक का पर्याय बने हुए हैं। ऐसा नहीं है कि नक्सली जिन क्षेत्रों में सक्रिय हैं वे इतने दुर्गम हैं कि वहां तक पहुंचा नहीं जा सकता। राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता चाहें तो ऐसे क्षेत्रों में नक्सल समर्थकों को समझा-बुझाकर उन्हें मुख्यधारा में ला सकते हैं, लेकिन या तो वे ऐसा करना नहीं चाहते या फिर उनकी भी नक्सलियों से साठगांठ है। कई सरकारी विभागों के कर्मचारियों के बारे में तो यही माना जाता है कि असुरक्षा के कारण वे नक्सलियों से हाथ मिलाने में ही अपनी भलाई समझते हैं। शायद यही कारण है कि नक्सली रह-रहकर ऐसी घटनाओं को अंजाम देने में समर्थ हैं जो सुरक्षा बलों को हतोत्साहित करने वाली होती हैं। जब भी इस तरह की कोई वारदात होती है तो केंद्र और राज्य सरकार की नीतियों पर सवाल खड़े हो जाते हैं।

नक्सलियों की हर बड़ी वारदात के बाद वही घिसी-पिटी बातें सुनने को मिलती हैं कि सुरक्षा बलों के पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं, इलाके बहुत दुर्गम हैं, सरकार के स्तर पर नीतिगत स्पष्टता का अभाव है और खुफिया तंत्र ठीक नहीं। यह भी कहा जाता है कि नक्सलियों पर दोष सिद्ध हो जाने के बाद उनकी सजा इतनी कठोर नहीं होती कि अन्य लोगों को नक्सलवाद की ओर जाने से रोका जा सके। सवाल यह है कि आखिर अब तक इन सब समस्याओं का समाधान क्यों नहीं किया जा सका है? नक्सलवाद जैसी गंभीर चुनौती का सामना करने में शासन-प्रशासन के स्तर

पर तो किसी भी प्रकार की ढिलाई की कोई गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिए। सुकमा की ताजा घटना के बाद यह सुनने को मिल रहा है कि दुर्गम इलाकों में लंबी तैनाती के कारण सुरक्षा बलों के जवान थक जाते हैं। कहा तो यहां तक जा रहा है कि नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में तैनाती कश्मीर घाटी से भी अधिक खतरनाक है। सीआरपीएफ को इस पर गंभीरता से ध्यान देना चाहिए कि क्या लंबी तैनाती और थकान के कारण जवानों को नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में चौकसी बरतने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है? यह भी देखा जाना चाहिए कि उनके पास आधुनिक हथियारों अथवा अन्य किसी संसाधन का अभाव तो नहीं है?यह अत्यधिक चिंता की बात है कि माओ की हिंसक विचारधारा से प्रेरित नक्सली आखिर देश के एकदम बीचोबीच आधुनिक हथियार और अन्य संसाधन जुटाने में कैसे कामयाब हो रहे हैं? सुरक्षा बल एवं खुफिया एजेंसियां उन लोगों तक क्यों नहीं पहुंच पा रहीं जो नक्सलियों को हर तरह की सहायता उपलब्ध करा रहे हैं? इसकी तह तक जाने की सख्त जरूरत है कि ये हथियार विदेश से आ रहे हैं या देश के अंदर से ही? एक अर्से से यह कहा जा रहा है कि पुलिस को पर्याप्त सक्षम बनाने की जरूरत है ताकि वे सीआरपीएफ जवानों की सही तरह मदद कर सकें। यह काम अभी भी नहीं हो पा रहा है। छत्तीसगढ़ समेत कई राज्यों में पुलिस के हजारों पद रिक्त हैं। इन राज्यों में पुलिस का खुफिया तंत्र भी बहुत कमजोर है। चूंकि बाहर से आए सीआरपीएफ जवान नक्सल प्रभावित इलाकों के भौगोलिक हालात और सामाजिक परिवेश से अनजान होते हैं इसलिए उनके साथ पुलिस की सक्षम टुकड़ी होना आवश्यक है। पता नहीं इस आवश्यकता की पूर्ति क्यों नहीं की जा रही है? नक्सली गुरिल्ला युद्ध में सक्षम हैं। सीआरपीएफ ऐसी लड़ाई के लिए पर्याप्त प्रशिक्षित नहीं। आखिर उसे जंगली इलाकों में छापामार शैली की लड़ाई में प्रशिक्षित करने में क्या कठिनाई है? एक सवाल यह भी है अन्य राज्य आंध्र प्रदेश की तर्ज पर खास तौर से नक्सलियों से निपटने में सक्षम कमांडो दस्ते का गठन क्यों नहीं कर पा रहे हैं?यह समझने की जरूरत है कि नक्सलियों द्वारा बार-बार किए जा रहे हमले और उनमें सुरक्षा बलों के जवानोें की क्षति आंतरिक सुरक्षा के परिदृश्य को कमजोर करने के साथ ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारत की छवि को प्रभावित करती है। नक्सली गतिविधियों और खास तौर पर सुरक्षा बलों पर उनके हमलों को तत्काल प्रभाव से रोकने की जरूरत है। इसके लिए केंद्र और नक्सलवाद प्रभावित राज्यों को ठोस पहल करनी होगी। नक्सलवाद से निपटने के लिए सुरक्षा के मोर्चे को दुरुस्त करने के साथ ही राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर भी जो प्रयास अपेक्षित हैं उनसे भी पीछे नहीं हटा जाना चाहिए।

दैनिक जागरण

Date: 01-05-17

आदि शंकराचार्य ने मध्यप्रदेश की भूमि से दिया सांस्कृतिक एकता का संदेश

उदया तिथि के अनुसार 1 मई 2017 को आदि शंकराचार्य की 'प्राकटय पंचमी' को हम पूरे प्रदेश में 'आचार्य शंकर प्रकटोत्सव' के रूप में मना रहे हैं। प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने भी आदि शंकराचार्य के प्रकटोत्सव को 'राष्ट्रीय दर्शन दिवस' के रूप में घोषित किया है। अद्वैत वेदांत दर्शन के प्रवर्तक, सनातन धर्म के पुर्नरूद्धारक एवं सांस्कृतिक एकता के देवदूत आदि शंकराचार्य का पावन स्मरण हम सांस्कृतिक एकता स्वरूप कर रहे हैं। इस अवसर पर पूरे प्रदेश में सभी संभाग, जिला, विकासखण्ड और ग्राम पंचायत स्तर पर विभिन्न विभागों के समन्वय से संगोष्ठियाँ और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं।आज से लगभग 1200 वर्ष पूर्व यानि 792 ईस्वी में आदि शंकराचार्य मध्यप्रदेश में नर्मदा तट पर ज्ञान प्राप्ति के लिए आये थे। उन्होंने ओंकारेश्वर के पास गोविन्द पादाचार्य से ज्ञान प्राप्त किया। इस घटना से बहुत कम लोग परिचित हैं।

हम इसको एक चमत्कार के रूप में देखते हैं। मध्यप्रदेश को इस पर गर्व है कि आदि शंकराचार्य मध्यप्रदेश की धरती पर 1200 वर्ष पहले एक चमत्कार के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने ही 'नर्मदाष्टक' लिखकर माँ नर्मदा के महत्व को स्थापित किया। एक बार जब माँ नर्मदा की भीषण बाढ़ से लोग आतंकित हो गए तो उन्होंने नर्मदाष्टक लिखकर माँ नर्मदा से प्रार्थना की और वह शांत हो गई।मध्यप्रदेश से ही उन्होंने 'अद्वैत-सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। मध्यप्रदेश में ही शिक्षित होकर उन्होंने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए सम्पूर्ण भारत वर्ष का भ्रमण किया था और पूरे राष्ट्र को आलोकित किया। उन्होंने देश के भ्रमित समाज को दिशा प्रदान की। उनके कारण ही वेदों एवं उपनिषदों की वाणी पूरे भारत में पुन: गूँजी। समाज में नये जीवन का संचार हुआ तथा मध्यप्रदेश में एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक उनकी सांस्कृतिक एकता यात्रा का मध्य-बिन्दु स्वाभाविक रूप से मध्यप्रदेश रहा है और संभवत: यह उन्हीं के संस्कारों का परिणाम है कि आज भी मध्यप्रदेश में अतिवादी आग्रह नहीं है, न धर्म का, न जाति और न ही संप्रदाय का। आदि शंकराचार्य मात्र 32 वर्ष की आयु में ऐसा कार्य कर गये, जिनके लिए हमारी कई पीढ़ियाँ आभारी रहेगी।त्रेता युग में भगवान राम ने उत्तर-दक्षिण, द्वापर युग में भगवान कृष्ण ने पूर्व-पश्चिम को जोड़ा था। कलयुग में यह जिम्मेदारी आचार्य शंकर के ऊपर आ गई। आदि गुरू शंकराचार्य महाराज ने पूरे देश को सांस्कृतिक रूप से जोड़ा। उन्होंने भारत में चारों दिशाओं में चार मठ ही नहीं बनाये, बल्कि देशभर में बहुत से मठ स्थापित किये। राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधने का कार्य शंकराचार्य जी ने किया। आज हम रामेश्वर में जल भरकर जाते हैं और बद्रीनाथ में चढ़ाते हैं, फिर बद्रीनाथ में पूजा करके दक्षिण में ब्राह्मण पूजा करते हैं। चारों पीठ में इनकी पूजा का विधान है। इसके पीछे यही सोच है कि भारत एक मजबूत राष्ट्र बने।

भारत माता एक बनी रहे। आचार्य शंकर ने हमारे देश में सांस्कृतिक एकता की जो मजबूत नींव रखी थी, उसी के कारण आज हम यह कह पाते हैं कि 'हस्ती मिटती नहीं हमारी'।आज दुनिया में शांति भंग हो रही है। लोग भाषा, जाति, धर्म, रंग, देश आदि कई आधारों पर बँट रहे हैं। मेरे विचार से सारी दुनिया को जोड़ने का काम 'वेद दर्शन' ही कर सकता है। सभी का देवता एक ही है, वही सबके मन में निवास करता है। सृष्टि के कण-कण में भगवान बसते हैं। हर एक आत्मा में परमात्मा का अंश है, वह हर जगह समाया हुआ है। दूसरे का अस्तित्व कहाँ है? यही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, जिसके कारण भारतवासी हजारों साल से यह मानते आए हैं कि 'अयं निज: परो वेत्ति गणनां लघु चेतसां, उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।' हम कहते हैं कि धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सदभावना हो, विश्व का कल्याण हो। कोई छोटा, कोई बड़ा या कोई ऊँच-नीच न हो, ऐसा हम सभी सोचते हैं। सारी दुनिया एक है, जो एक परिवार के रूप में है। प्राणी मात्र में एक चेतना है। यह धरती किसी एक की सम्पत्ति नहीं है।यह धरती इंसानों के लिए, पशुओं के लिए, कीट पतंगों, सबके लिए हैं। धरती पर किसी एक का हक नहीं है। आचार्य शंकराचार्य के दर्शन ने भारतीय समाज में इन्हीं जड़ों को मजबूत किया। शंकराचार्य के दर्शन में सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों का दर्शन हम कर सकते हैं।

निर्गुण ब्रह्म उनका निराकार ईश्वर है तथा सगुण ब्रह्म साकार ईश्वर है। तत्वमसि तुम ही ब्रह्म हो; अहं ब्रह्मास्मि मैं ही ब्रह्म हूँ, 'अयामात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ही ब्रह्म है। इन वाक्यों के द्वारा इस जीवात्मा को निराकार ब्रह्म से अभिन्न स्थापित करने का प्रयत्न शंकराचार्य जी ने किया।हमने निर्णय लिया है कि मध्यप्रदेश में आदि शंकराचार्य के पाठ शिक्षा की पुस्तकों में जोड़े जायेंगे, उनका प्रकटोत्सव मनाया जायेगा। ओंकारेश्वर में शंकर संग्रहालय, वेदांत प्रतिष्ठान और शंकराचार्य की बहुधातु मूर्ति स्थापित की जायेगी। मूर्ति के लिए प्रदेशभर से धातु संग्रह अभियान चलाकर प्रदेशवासियों को इससे जोड़ा जायेगा। आइये हम सभी संकल्प लें कि हम आदि शंकराचार्य के प्रति मध्यप्रदेश की ओर से अपनी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति करेंगे।

जनसत्ता

Date:-30-04-17

बर्र के छत्ते को न छेड़ें

पिछले हफ्ते मैंने खुद को एक अजीब स्थिति में पाया, एक संसदीय समिति की रिपोर्ट को न तो स्वीकार कर सकता था न उससे पल्ला झाड़ सकता था! सरकारी पद संभालने की चुनौतियां ऐसी होती हैं। राजभाषा पर संसदीय समिति का गठन पहली बार 1976 में हुआ। परिपाटी के मुताबिक गृहमंत्री इस समिति का पदेन अध्यक्ष होता है। समिति में बीस सदस्य लोकसभा से और दस सदस्य राज्यसभा से होते हैं। यह चुनाव केवल एक औपचारिक कार्यवाही है, क्योंकि समिति में विभिन्न राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व संसद के दोनों सदनों में उनके संख्याबल के अनुपात में होता है और वे उसी के हिसाब से अपने उम्मीदवार मनोनीत करते हैं।

हिंदी के हिमायती

समिति का मकसद हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देना है। राजनीतिक दल अमूमन हिंदी के हिमायतियों को समिति के लिए नामांकित करते हैं। स्वाभाविक ही, समिति के सारे नहीं, तो अधिकतर सदस्य जरूर ऐसे होते हैं जो सभी आधिकारिक कामों में हिंदी का इस्तेमाल बढ़ाने के उपाय सुझाना अपना कर्तव्य समझते हैं। दिसंबर, 2008 में मेरे गृहमंत्री बनने के बाद मुझे समिति का अध्यक्ष बनाया गया। सांसद सत्यव्रत चतुर्वेदी समिति के उपाध्यक्ष थे, जो हिंदी के इस्तेमाल को बढ़ावा देने के प्रबल पैरोकार थे। तीस सदस्य विभिन्न उप-समितियों में रखे गए थे। सबसे महत्त्वपूर्ण उप-समिति थी, मसविदा एवं साक्ष्य उप-समिति। समिति के उपाध्यक्ष इसके प्रमुख होते थे।जहां तक मुझे याद आता है, साक्ष्य हिंदी में रिकार्ड किए जाते थे और रिपोर्ट भी हिंदी में तैयार की जाती थी। पूर्ण समिति, कुछ बहस-मुबाहिसे के बाद, रिपोर्ट स्वीकार कर लेती थी। मुझे याद है कि विचार-विमर्श हिंदी में होते थे, और मैं ज्यादातर समय चुप और हैरान श्रोता ही बना रहता था! जाहिर है, सदस्यों के भारी बहुमत का दृष्टिकोण रिपोर्ट में समाहित सिफारिशों में प्रतिबिंबित होता था। समिति के अध्यक्ष को कोई असाधारण अधिकार हासिल नहीं थे, और निश्चय ही वह बहुमत के, और इस मामले में तो भारी बहुमत के दृष्टिकोण को खारिज नहीं कर सकता था। समिति के अध्यक्ष के नाते रिपोर्ट सरकार को सौंपना मेरी ड्यूटी थी, जो कि 2011 में मैंने किया।ऐसा लगता है कि हाल में सरकार ने समिति की कुछ सिफारिशें स्वीकार करते हुए उन्हें राष्ट्रपति के पास भेज दिया, जिन्होंने मंत्रिमंडल की सलाह पर चलते हुए वे सिफारिशें स्वीकार कर लीं। फिर सिफारिशें विधिवत केंद्र सरकार के मंत्रालयों को और राज्य सरकारों को भेज दी गईं। यह जोर देकर कहना जरूरी है कि वे केवल सिफारिशें हैं।

हिंदी और अंग्रेजी का सह-अस्तित्व

रिपोर्ट के प्रकाशन और सिफारिशों ने बर्र के छत्ते में हाथ डाला है। जो चिंता जताई जा रही है, हालांकि वह सही ठहराई जा सकती है, पर भयावह नतीजे होंगे ऐसा डर पालने की कोई जरूरत नहीं है। मैं ऐसा क्यों सोचता हूं आपको बताता हूं: पहली बात यह, कि हिंदी और अंग्रेजी ने शांतिपूर्वक साथ-साथ रहना सीख लिया है! हिंदी को अपना स्थान मालूम है और अंग्रेजी को अपना, और कुछ स्थानों पर दोनों बातचीत की एक अनोखी और उभरती हुई भाषा में साझीदार हैं, जिसे हिंग्लिश नाम दिया गया है! शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व सबसे ज्यादा वहां दिखता है जहां यह मायने रखता है, अर्थात सरकारी या आधिकारिक कामकाज को संपादित करने में: बातचीत हिंदी में, बहस हिंग्लिश में, मंत्री को

रिपोर्ट या विवरण देना हो तो अंग्रेजी या हिंदी में, संसद में प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अंग्रेजी और हिंदी, विदेशी मेहमानों से बातचीत के लिए अंग्रेजी, और विज्ञान, तकनीक, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, रक्षा और विदेश मामलों के लिए अंग्रेजी। दूसरी बात यह, कि चाहे हिंदी हो या अंग्रेजी, वह जनता के बहुत बड़े हिस्से (नब्बे फीसद से ज्यादा) के लिए मायने नहीं रखती, जोसिर्फ एक भाषा यानी अपनी मातृभाषा के सहारे अपना गुजारा करती है। राज्य के और स्थानीय निकायों के कामकाज संबंधित राज्य की भाषा में होते हैं- तमिलनाडु में तमिल में, बंगाल में बांग्ला में, पंजाब में पंजाबी में, आदि। किसी वजह से दूसरे राज्य में जाकर बस जाने वाले लोग उस राज्य की भाषा, कम से कम कामचलाऊ दर्जे की तो सीख ही लेते हैं।

वैश्वीकरण और अंग्रेजी

तीसरी बात यह, कि वैश्वीकरण ने अंग्रेजी का स्थान पक्का कर दिया है। फ्रांसीसी, जापानी और चीनी लोग अपनी भाषा से बेइंतहा प्यार करते हैं, पर उन्होंने भी अंग्रेजी को स्वीकार कर लिया है, और वहां के युवा वर्ग में धड़ल्ले से अंग्रेजी बोलने वालों की तादाद निरंतर बढ़ रही है। बाहरी दुनिया के संपर्क में आने वाले अधिकतर भारतीय विदेश-यात्रा या आप्रवासन के लिए अमूमन अंग्रेजी-भाषी देशों का चुनाव करते हैं। वैश्वीकृत दुनिया में अंग्रेजी का इस्तेमाल बढ़ते ही जाना है। जब अभिभावकों ने इस हकीकत को पहचान लिया तो राज्यों को विवश होकर कक्षा एक से ही अंग्रेजी को एक विषय के तौर पर शामिल करना पड़ा। चौथी बात यह, कि अंग्रेजी की पहुंच हवा में, समुद्र में और अंतरिक्ष में भी है, भले जमीन पर कोई और भाषा बोली जा रही हो। इस तथ्य का प्रत्यक्ष अहसास मुझे लक्षद्वीप तक जाने वाले समुद्री जहाज एमवी लैगून के नियंत्रण कक्ष में हुआ। हम एअर ट्रैफिक कंट्रोल (एटीसी) या वीकल ट्रैकिंग सिस्टम या मिशन कंट्रोल सिस्टम बिना अंग्रेजी के नहीं चला सकते। निश्चय ही हिंदी या तेलुगू या असमिया में 'पोर्ट' और 'स्टारबोर्ड' के लिए शब्द होगा, मगर जहाज पर कौन उनका इस्तेमाल करता है!

पांचवीं बात यह, कि मीडिया के जबर्दस्त फैलाव और मीडिया तक पहुंच वाले मंचों की संख्या में विस्फोटक वृद्धि ने लोगों को विवश किया है कि वे कामकाजी तौर पर अंग्रेजी में साक्षर हों। सूचना पाने की आकांक्षा और तकनीक के इस्तेमाल की जरूरत ने लोगों के लिए अंग्रेजी का व्यावहारिक ज्ञान हासिल करना जरूरी बना दिया है। संसदीय समिति की सिफारिशें मंत्रालयों और राज्यों को भेजने के बाद, सरकार कुछ सही कर सकती है तो यही कि वह कुछ न करे। स्वाभाविक क्रम में, भारत में ज्यादा से ज्यादा लोग द्विभाषी या त्रिभाषी, यहां तक कि बहुभाषी भी होंगे। (लक्षद्वीप की युवा पुलिस अधीक्षक को मैंने चार भाषाएं धाराप्रवाह बोलते सुना, हो सकता है वह और भी भाषाएं बोलती हों)। राज्य अपनी-अपनी भाषा की उन्नति के लिए काम करेंगे। अंग्रेजी भी फले-फूलेगी। हिंदी का इस्तेमाल स्वाभाविक गति से बढ़ेगा। कोई विवाद खड़ा करने की जरूरत नहीं है।

THE HINDU

Date:-30-04-17

No full stops

On Bhutan's exit from the 'BBIN' agreement

Bhutan's exit from the 'BBIN' agreement should not hold up the road-sharing pact

Bhutan's announcement that it is unable to proceed with the Motor Vehicles Agreement with Bangladesh, India and Nepal is a road block, and not a dead end, for the regional sub-grouping India had planned for ease of access among the four countries. The sub-grouping, BBIN as it is referred to, was an alternative mooted by the government after Pakistan rejected the MVA at the SAARC summit in Kathmandu in 2014. It seeks to allow trucks and other commercial vehicles to ply on one another's highways to facilitate trade. Of the other SAARC members, Sri Lanka and the Maldives are not connected by land, and Afghanistan could only be connected if Pakistan was on board. Down to just three countries now after Thimphu's decision, India, Nepal and Bangladesh will have to decide whether to wait for Bhutan to reconsider or to press ahead with a truncated 'BIN' arrangement. The first option will not be easy. The main concern expressed by Bhutanese citizen groups and politicians is over increased vehicular and air pollution in a country that prides itself on ecological consciousness. The upper house of parliament has refused to ratify the MVA that was originally signed by all four BBIN countries in 2015, and the official announcement indicates that Thimphu will not push the agreement ahead of elections in 2018.

Despite the setback, New Delhi must persevere with its efforts. To begin with, Bhutan's objections are environmental, not political, and its government may well change its mind as time goes by. Dry runs have been conducted along the routes, and officials estimate the road links could end up circumventing circuitous shipping routes by up to 1,000 km. Second, Bhutan's concerns may be assuaged if India considers the inclusion of waterways and riverine channels as a less environmentally damaging substitute. Perhaps, Bhutan's objections may even spur an overhaul of emission standards for trucks currently plying in India, Nepal and Bangladesh. Above all, the BBIN pact denotes a "can-do" attitude on India's part, as it shows a willingness to broaden its connectivity canvas with all countries willing to go ahead at present, leaving the door open for those that may opt to join in the future. A similar initiative for the Asian Highway project under the BCIM (Bangladesh-China-India-Myanmar) corridor got a boost this week as the countries moved to upgrade the dialogue to the governmental level. Although India has refused to attend China's Belt and Road summit on May 14-15, objecting to projects in Pakistan-occupied Kashmir, the BCIM will remain a way of joining the network when India's concerns are met. Connectivity is the new global currency for growth and prosperity as it secures both trade and energy lines for countries en route, and India must make the most of its geographic advantages.